ब्रिटिश युग में संसदीय प्रणाली का विकास

Ms. Reena
Research Scholar
Faculty of History
OPJ S University, Rajasthan

शोध–आलेख सार– वस्तुतः भारत में संसदीय प्रणाली के विकास में ब्रिटिश शासनकाल का विशेष महत्व है। अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत हैं कि आधुनिक अर्थों में भारत की संसदीय शासन प्रणाली का उद्भव एवं विकास ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्धों से जुड़ा हुआ है। जिस रूप में भारत की संसद और संसदीय संस्थाओं को आज हम जानते हैं, उनका विकास भारत में ही हुआ तथा उनका प्रमुख लक्ष्य विदेशी शासन से मुक्ति के लिए स्वतन्त्र लोकतंत्रीय संस्थाओं की स्थापना के लिए प्रयास करना था। अंततः उनके यह प्रयास उनके द्वारा किए गए अनेकों स्वाधीनता संघर्षों और ब्रिटिश शासकों द्वारा धीरे–धीरे एवं छोटे–छोटे टुकड़ों में दिए गए संवैधानिक सुधारों के रूप में प्रतिपादित हुए। इनकी वास्तविक शुरूआत 1833 के चार्टर एक्ट से मानी जा सकती है तथा इसकी समाप्ति 1935 के भारत सरकार अधिनियम पर जाकर हुई। प्रस्तुत शोध पत्र में ब्रिटिश युगीन संसदीय प्रणाली के विकास पर प्रकाश डाला गया है।

मूलशब्द– ब्रिटिश शासन, संसदीय प्रणाली, संवैधानिक सुधार, भारत सरकार अधिनियम।

भूमिका– कुछ इतिहासकारों व राजनीतिक विद्वानों का मानना है कि भारत में सबसे पहले 1833 के अधिनियम के तहत जिस संसदीय प्रणाली की नींव पड़ी वह आगे चलकर भारत में उतरदायी शासन प्रणाली के निर्माण में सहायक सिद्ध हुई। वस्तुतः 1833 के इस एक्ट के द्वारा भारत में केन्द्रीय विधानसभा की अस्पष्ट सी शुरूआत हुई। भारत में ब्रिटिश क्षेत्रों के शासन में गर्वनर जनरल–इन–कौंसिल की कानून बनाने वाली बैठकों और कार्यकारी बैठकों में अन्तर किया गया। इस अधिनियम के द्वारा भारत में पहली बार गवर्नर–जनरल–गवर्नमेंट को **'गवर्नमेंट ऑफ इंडिया'** या भारत सरकार कहा गया। इस एक्ट ने वैधानिक क्षेत्र में भी केन्द्रीयकरण लागू किया। वस्तुतः इसी एक्ट में वैधानिक संस्था या विधान परिषद के बीज दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि इस एक्ट में ब्रिटिश संसद को

भारत के लिए कानून बनाने का अधिकार स्पष्ट रूप से दिया गया।[1]

1853 का चार्टर एक्ट– संवैधानिक विकास की इस कड़ी में तत्पश्चात 1853 के चार्टर एक्ट के द्वारा कार्यकारिणी और विधान परिषद की शक्तियों को पृथक करने का प्रयास किया गया तथा भारत के लिए एक पृथक विधायिनी परिषद की नियुक्ति हुई। अब तक कम्पनी को चार्टर प्रदान करने का विरोध विशेषतः भारतवासियों ने किया। उनकी मांग भी कि दोहरी शासन–प्रणाली को समाप्त किया जाए और एक भारत मन्त्री ;सचिव, की तथा एक भारत परिषद की नियुक्ति की जाए, जो भारत के लिए प्रेसीडेंसियों को स्वायत्त शासन प्रदान करे। इस चार्टर के बाद घटनाएं तेजी से बदलती गई।[2] यह ब्रिटिश सरकार का अन्तिम चार्टर अधिनियम था जिसके द्वारा गवर्नर–जनरल की कौंसिल में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गए। इस एक्ट ने विधि–निर्माण के क्षेत्र में निश्चित रूप से कुछ सुधार किए, परन्तु वे तत्कालीन जरूरतों को पूरा करने के लिए नहीं थे। कौंसिल में किसी भारतीय को शामिल नहीं किया गया था। बाद में मांटेग्यू चेम्सपफोर्ड सुधारों में इस बात का उल्लेख हुआ कि देश के विधि–निर्माण से भारतीयों को पूरी तरह अलग रखने के कारण क्या–क्या खतरे पैदा हुए, जो कि 1857 की भयंकर घटनाओं से प्रमाणित होते हैं।

1858 का भारत सरकार अधिनियम – 1857 में भारत में एक व्यापक जनविद्रोह की शुरूआत हो गई जिसने ईस्ट इंडिया कम्पनी के भाग्य का फैसला कर दिया तथा तीव्र गति से नए परिवर्तन हुए। अब मुगल साम्राज्य का अन्त हो गया और 1858 के 'गवर्नमेंट ऑपफ इंडिया एक्ट' के तहत सभी भारतीय क्षेत्र ब्रिटिश साम्राज्य या ताज के नियन्त्रण मे आ गए तथा उनका राजकाज 'सेक्रेट्री ऑफ स्टेट' के माध्यम से स्वयं साम्राज्ञी द्वारा या अपने नाम से चलाया जाना अपेक्षित हो गया। अधिंकांश इतिहासकार इसे भारतीय संसदीय प्रणाली के इतिहास में युगान्तरकारी घटना मानते हैं।

1861 का भारतीय कौंसिल अधिनियम– वस्तुतः 1857 की आजादी की लड़ाई के बाद भारतीय इतिहास में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आया और ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों के हितों को ध्यान में रखते हुए तथा भारत में अपनी राजनैतिक पकड़ मजबूत बनाने के लिए 1861 का भारतीय कौंसिल अधिनियम का निर्माण किया। इस अधिनियम को **'भारतीय विधानमंडल का प्रमुख घोषणापत्र'** कहा जाता है। इसके द्वारा भारत में विधायी अधिकारों के अन्तरण की प्रणाली का उद्घाटन हुआ तथा केन्द्रीय एवं प्रातींय स्तरों पर विधानमंडल बनाने की व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गए। अंग्रेजी

[1] सी. इलबर्ट, दॉ गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, आक्सफोर्ड प्रैस, नई दिल्ली, 1992, पृ. 87
[2] भालचन्द्र गोस्वामी, लोकतन्त्र और विधानमण्डल, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 2005, पृ.16

राज के भारत में जमने के बाद पहली बार विधायी निकायों में गैर–सरकारी लोगों को रखने की बात को माना गया।[3] परन्तु 1861 के इंडियन कौंसिल एक्ट के अन्तर्गत स्थापित परिषदें भारतीय भावनाओं को संतुष्ट करने में अपर्याप्त थी। यद्यपि इनमें भारतीयों को भी शामिल किया गया था, लेकिन फिर भी जन–आक्रोश बढ़ता ही जा रहा था। इसी बीच 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो गई। बम्बई मे 28–30 दिसम्बर 1885 को हुए कांग्रेस के अधिवेशन में व्योमेश चन्द्र बैनर्जी ने अध्यक्षता करते हुए कहा कि 'कांग्रेस यह मानती है कि वर्तमान सर्वोच्च स्थानीय विधानपरिषदों को काफी संख्या में चुने हुए सदस्यों को शामिल कर सुधारने और विस्तारित करना जरूरी है। कांग्रेस प्रस्तावित करती है कि सारे बजट विचार के लिए इन परिषदों को सौंपे जाएं, जिनके सदस्य प्रशासन के सभी मामलों में कार्यकारिणी को प्रभावित कर सकें।'[4] इसके बाद ब्रिटिश शासन पर कांग्रेस रूपी संस्था के रूप में एक दबाव अवश्य महसूस किया गया।

1892 का इंडियन काउंसिल अधिनियम– यह अधिनियम अंशतः प्रतिनिधि संस्थाओं के लिए बढ़ती हुई भारतीय मांग को स्वीकार करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। ब्रिटिश संसद द्वारा विधान परिषदों में भारत की जनता को वास्तव में प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से इस एक्ट में स्वीकृति दी गई। इसे कांग्रेस ने अपनी विजय माना क्योंकि प्रथम बार परिवर्तित परिषदों में प्रतिनिधित्व की बात को मान्यता दी गई। इससे 1861 के अधिनियम में भारतीय परिषदों के पुनर्गठन के लिए संशोधन किया गया और गर्वनर जनरल की विधान परिषद का अधिक विस्तार करने के लिए भी व्यवस्था की गई। इस अधिनियम के कारण ही विधान परिषदों में प्रतिनिधिक तत्व का समावेश हुआ और परिषदों के कार्यकरण पर लगे प्रतिबंधों में कुछ ढ़ील दी गई। इसमें निर्वाचित सदस्यों के प्रवेश से परिषद के जीवन में एक नवीन युग की शुरूआत हुई।[5]

मार्ले मिण्टो सुधार अधिनियम– जब भारत में 1905 में जब लार्ड कर्जन के स्थान पर लार्ड मिण्टो भारत के वायसराय बने तो 1909 मे नया सुधार अधिनियम पास हुआ जिसे मार्ले–मिण्टों सुधार अधिनियम कहा जाता है, क्योंकि यह अधिनियम भारत के सेक्रेट्री ऑफ स्टेट जान मार्ले और वायसराय मिण्टों के संयुक्त प्रयासों का प्रतिफल था। इस अधिनियम द्वारा प्रशासन तथा विधि निर्माण, दोनों कार्यों में प्रतिनिधित्व दिया गया। इसमें केन्द्रीय विधानसभा में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 60 कर दी

[3] एन.के गोस्वामी, **भारत में संसदीय व्यवस्था,** अविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर, 2005. पृ.9

[4] सुभाष कश्यप, संसदीय लोकतन्त्र का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998, पृ.9

[5] सुभाष कश्यप, हमारी संसद, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2003, पृ. 5–6

गई जिससे परिषद की कुल संख्या 69 हो गई इसमें निर्वाचित सदस्यों को वर्गों, हितों और श्रेणियों के आधार पर लिये जाने की व्यवस्था की गई।[6] परन्तु यह अधिनियम भी भारतीयों की आकांक्षाओं को पूरा करने में असमर्थ रहा। भारतीयों की मांग थी – एक उत्तरदायीपूर्ण सरकार की स्थापना, जो पूरी न हो सकी। परन्तु इस अधिनियम ने एक संकुचित तथा विभेदकारी मताधिकार प्रदान किया जिससे आगे चलकर देश का विभाजन हुआ। सरदार पणिकर ने लिखा है – 'यह घृणित द्वि–राष्ट्र सिद्धान्त की प्रथम अभिव्यक्ति थी जिससे आगे चलकर अन्ततः देश का विभाजन हुआ।'[7]

1919 का मांटेग्यू घोषणा पत्र– इसे भारत में संसदीय शासन के विकास का महत्वपूर्ण आधार माना जा सकता है। वास्तव में इसी समय से भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना में सार्थक तथा सकारात्मक निर्णय लिया गया था। इस अधिनियम को संसदीय सुधारों के इतिहास में मील का पत्थर कहा जाता है क्योंकि इस अधिनियम से प्रतिनिध्यात्मक शासन का स्वरूप सामने आता है। लेकिन इसके द्वारा भी प्रांतों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई थी। प्रांतों के विषयों को दो भागों – आरक्षित व हस्तांतरित में बांटा गया था। हस्तांतरित विषय मंत्रियों को सौंपे गए थे जो जनता के प्रतिनिधि होते थे और विधान परिषद के लिए उत्तरदायी होते थे। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि विधान परिषदों का निर्वाचन प्रत्यक्ष पद्धति से होने लगा। प्रांतों में विधि निर्माण सम्बन्धी समस्त शक्तियाट्ट विधान परिषद को सौंपी गई थी या प्रांतीय सूची के सभी विषयों पर विधान परिषद कानून बना सकती थी। हंस्तातरित विषयों के मंत्रियों से विधान परिषद प्रश्न पूछकर उनके विरूद्ध प्रस्ताव पारित करके पूर्ण नियन्त्रण रखती थी लेकिन इस समय राज्यपाल के पास अहम शक्ति थी परन्तु मन्त्रियों के पास नाममात्र की शक्ति थी।[8] अतः यह व्यवस्था भी असपफल रही, परन्तु इसके महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। इससे देश में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन का सूत्रापात हुआ और भारत में संसदीय शासन प्रणाली की नींव सुदृढ़ हुई।

1935 का भारत सरकार अधिनियम– यह ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्मित अन्तिम अधिनियम था जिसका उद्देश्य भारत में एक संघीय ढ़ांचे की स्थापना करना था। 1919 के भारत सरकार अधिनियम के बाद भारत में यह संसदीय सुधारों के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कदम था। यह एक बहुत लम्बा और जटिल अधिनियम था। इसमें 451 खण्ड और 15 अनुसचियाँ थी। भारत का वर्तमान संवैधानिक ढांचा काफी

[6] भालचन्द्र गोस्वामी, पूर्वोक्त, पृ.9
[7] सुभाष कश्यप, हमारी संसद, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2003, पृ.9
[8] रजनी तिवारी, भारत में दलीय व्यवस्था और संसदीय लोकतन्त्र, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2003, पृ.15

हद तक 1935 के अधिनियम का ही रूप है जिसने भारत में संघात्मक सरकार की स्थापना की।[9] 1935 के भारत सरकार अधिनियम में एक परिसंघीय ढांचे की व्यवस्था रखी गई। अधिनियम में कहा गया था कि संघीय विधानमंडल में गवर्नर–जनरल तथा दो सदन होंगें। जिन्हे क्रमशः कौंसिल ऑफ स्टेट (उपरी सदन) तथा हाउस ऑफ असेम्बली (निम्न सदन) कहा जाएगा। कौंसिल में ब्रिटिश इंडिया के 156 प्रतिनिधि और भारतीय रियासतों के अधिकतम 104 प्रतिनिधि होंगें। निम्न सदन में ब्रिटिश इंडिया के 250 प्रतिनिधि तथा भारतीय रियासतों के अधिकतम 125 प्रतिनिधि होंगें। उफपरी सदन एक स्थानीय निकाय होगा जिसे भंग नहीं किया जा सकेगा, परन्तु उसके एक तिहाई सदस्य हर तीसरे वर्ष सेवानिवृत हो जाएंगें। प्रत्येक संघीय असेम्बली पांच वर्षों के लिए कार्य करेगी। अधिनियम में उपरी सदन के लिए प्रत्यक्ष चुनाव का और निम्न सदन के लिए अप्रत्यक्ष चुनाव का तरीका अपनाया गया था।[10]

इस अधिनियम के तहत सर्वप्रथम भारत में संघात्मक ढांचे की स्थापना की गई। इसमें प्रांतों में स्वायत शासन को लागू किया गया और केन्द्र तथा प्रांतों में शक्तियों का विभाजन किया गया। विभाजन की तीन श्रेणियाँ बना दी गई – संघ, प्रांतीय और समवर्ती सूची। संघ सूची में 59, प्रान्तीय में 54 तथा समवर्ती सूची में 26 विषय रखे गए। इसके अतिरिक्त भारत में एक संघीय न्यायालय की स्थापना भी की गई।[11] परन्तु इस अधिनियम की भी एक सीमा थी। इस अधिनियम को भी भारतीयों ने नकार दिया। नेहरू जी का विचार था – '1935 के एक्ट में किए गए संघ के प्रावधान से राज्यों में निरंकुश शासन ही मजबूत हुआ, तथा सामंती एवं निरंकुश इकाइयों और लोकतांत्रिाक प्रदेशों के बीच एक अप्राकृतिक और काम न आने वाले संघ का निर्माण हुआ। यह वास्तव में भारत की राजनीतिक और सामाजिक प्रगति को कुचलने को जानबुझकर किया गया प्रयास था, साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पकड़ को मजबूत करने का भी, सीधे तौर पर और अप्रत्यक्ष रूप से सामंती रजवाड़ो के जरिए। यह लोकतन्त्र–विरोधी और प्रगति के मार्ग में बाधक था।'[12] कांग्रेस ने इस अधिनियम को पूर्णतः अस्वीकृत कर दिया, क्योंकि यह किसी भी प्रकार राष्ट्र की भावनाओं को प्रस्तुत नहीं करता था। यह महसूस किया गया कि यह अधिनियम लोगों की घोषित आकांक्षा के विपरीत भारत पर थोपा गया है।

[9] भालचन्द्र गोस्वामी, पूर्वोक्त, पृ.24
[10] एन. के. गोस्वामी, पूर्वोक्त, पृ.3.
[11] भालचन्द्र गोस्वामी, पूर्वोक्त, पृ.24–27.
[12] सुभाष कश्यप, संसदीय लोकतन्त्र का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998, पृ.25.

यह तर्क दिया गया कि भारतीय जनता उसी सवैधानिक ढांचे को मान्यता दे सकती है जो उसके द्वारा तैयार किया गया हो। कांग्रेस भारत में एक वास्तविक लोकतांत्रिक राष्ट्र के लिए प्रतिबद्ध थी जिसमें राजनीतिक शक्ति समग्र रूप से जनता को सौंप दी गई हो और सरकार उनके प्रभावी नियन्त्रण में हो। इसलिए इस प्रकार का कोई राष्ट्र केवल संविधान सभा के माध्यम से ही अस्तित्व में आ सकता था।[13]

सारांश– 1935 के अधिनियम के बाद भारत में संविधान सभा की मांग जोर पकड़ने लगी और पूर्ण स्वराज्य के लिए देशभर में जोशभरी लहर चल पड़ी। काफी विचार–विमर्श के बाद संविधान सभा का गठन किया और संविधान सभा के चुनाव भी हुए। इनमें कांग्रेस को 296 में से 208 सीटें और मुसलमानों के लिए 78 में से 73 सीटों पर मुस्लिम लीग विजयी रही। 9 दिसम्बर 1946 को संविधान सभा का अधिवेशन बुलाने की घोषणा सरकारी तौर पर 20 नवम्बर को की गई। परन्तु मुस्लिम लीग ने हर हाल में निर्वाचित संविधान सभा का विरोध किया और अनेक समस्याएं खड़ी की। परन्तु तत्कालीन प्रधानमन्त्री एटली ने 20 पफरवरी 1947 को सहसा ही तनावपूर्ण स्थिति के बीच घोषणा कर दी कि हर हालत में जून, 1948 से पहले भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त कर दिया जाएगा। उसी के तहत 3 जून, 1947 को माउण्टबेटन योजना के तहत भारत के विभाजन को भी अन्तिम रूप से दिया और भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 के तहत भारत आजाद हो गया। इस तरह 1833 के अधिनियम से लेकर 1935 के भारत सरकार के अधिनियम तक की यात्रा भारत के संसदीय इतिहास के लोकतंत्र में एक मील का पत्थर मानी जाती है, जिस पर चलकर हमारे संविधान निर्माताओं ने अपनी राजनैतिक विरासत को संजोकर भारतीय संविधान का निर्माण किया।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1.के.सी. व्हीयर, **फेडरल गर्वनमेंट,** आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, लन्दन, 1963.

2.सी. इलबर्ट, **दॉ गवर्नमेंट ऑफ इंडिया**, आक्सपफोर्ड प्रैस, नई दिल्ली, 1992.

3.अमरनाथ झा, **वर्तमान शासन प्रणाली का पुनर्गठन,** क्लासिक पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1994.

[13] सुभाष कश्यप, भारतीय संसद : समस्याएं एवं समाधान, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1999, पृ.25.

4. सुभाष कश्यप, **संसदीय लोकतन्त्र का इतिहास**, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998.

5. सुभाष कश्यप, **भारतीय संसदः समस्याएं एवं समाधान**, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1999.

6. विश्व प्रकाश गुप्त एवं मोहिनी गुप्ता, **भारतीय राजनीतिः विकास और विश्लेषण**, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2001.

7. सुभाष कश्यप, **हमारी संसद,** नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2003.

8. रजनी तिवारी, **भारत में दलीय व्यवस्था और संसदीय लोकतन्त्र**, अर्जुन पब्लिशिंग हाउफस, नई दिल्ली, 2003.

9. एन.के गोस्वामी, **भारत में संसदीय व्यवस्था,** अविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर, 2005.

10. भालचन्द्र गोस्वामी, **लोकतन्त्र और विधानमण्डल**, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 2005..

11. एस.ए. पॉलेकर, **पॉलिटिकल सिस्टम इन इंडिया,** ए.बी.डी. पब्लिशर्स, जयपुर, 2006.

12. दीपक वर्मा, **भारतीय संविधान, भाग–1**, कल्पना प्रकाशन दिल्ली, 2010.

13. मनोज सिन्हा, **समकालीन भारतः एक परिचय,** ओरियंट ब्लैक स्वॉन, नई दिल्ली, 2012.

14. आर.सी अग्रवाल एवं महेश भटनागर, **भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन,** एस चन्द एण्ड कंपनी, नई दिल्ली, 2013.